

# ‘नागरिक साहस’ के निर्माण की चुनौतियां

रविकांत



गीरू का मानना है कि वास्तविक विवेचनात्मक लोकतंत्र बनाने के लिए विवेचनशील नागरिक की जरूरत होती है और ऐसे नागरिक बनाने में स्कूल एक महत्वपूर्ण जगह है। गीरू की बुनियादी मान्यता है कि लोकतांत्रिक प्रथाएं कभी भी विरासत में नहीं मिलतीं। उन्हें निरंतर अर्जित करना होता है। हालांकि, वे लोकतंत्र में इस संघर्ष को सिर्फ स्कूल तक ही सीमित नहीं मानते।



## लेखक परिचय

तकरीबन 20 वर्षों से प्रारंभिक शिक्षा में शिक्षक शिक्षा, शिक्षण सामग्री एवं पाठ्यपुस्तक निर्माण, शिक्षाक्रम और अनुवाद के क्षेत्र में कार्य। हाल-फिलहाल विभिन्न संस्थाओं के साथ बतौर शैक्षिक सलाहकार कार्यरत हैं।

कई दशकों से हमारे देश में जिस तरह से लोकतांत्रिक संस्थाओं को कमजोर किया जा रहा है और आज के वक्त में दृश्य और छापेवाला मीडिया अपने कारपोरेट मालिकों की वजह से सत्ता की चाटुकारिता में जुटा है, ऐसे वक्त सवैधानिक लोकतंत्र को व्यावहारिक लोकतंत्र में बदलने का रास्ता सुझाने वाली यह किताब इसलिए बेहद जरूरी कही जा सकती है, क्योंकि यह चुनावी लोकतंत्र वाले हमारे देश को वास्तविक विवेचनात्मक लोकतंत्र बनाने की कुछ पगडंडियां सुझाती है। क्या वे पगडंडियां किसी रास्ते या राजमार्ग में तब्दील हो पाएंगी, यह तो उन पगडंडियों को बनाने वालों, उन पर चलने वालों पर और उन पगडंडियों पर भी निर्भर करता है।

इस किताब के लेखक हेनरी गीरू ने स्कूली शिक्षण और राजनैतिक जीवन के आपसी संबंधों के बारे में हमारी समझ को काफी विस्तृत और गहरा करने में एक शिक्षा सिद्धांतकार के तौर पर काफी काम किया है। गीरू के लेखन व शिक्षण के केन्द्र में ऐसी लोकतांत्रिक प्रतिबद्धताएं हैं जो साझे शासन में सभी नागरिकों को शामिल करती हैं। इसके जरिए गीरू विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्र के सबसे स्पष्ट प्रतिपादक बनने के दावेदार हो जाते हैं। गीरू शिक्षक और उनकी संस्थाओं की पारंपरिक भूमिकाओं को चुनौती देकर उनका दायरा फैलाते हुए अध्ययन के नए क्षेत्रों को हमारे सामने खोलते हैं। वे पाउलो फ्रेरे के शिक्षा दर्शन को आगे बढ़ाते हैं, जिसमें सामाजिक और राजनैतिक संबंधों को तय करने में शिक्षा एक अहम भूमिका अदा करती है। पिछले 45 सालों से पहले माध्यमिक अध्यापक और बाद में महाविद्यालयीय प्राध्यापक के तौर पर गीरू ने अलग-अलग संस्थानों में काम करते हुए कई किताबें लिखी हैं, उनमें से पांच को उनके प्रकाशन के साल में शिक्षा पर सालाना प्रकाशित होनी वाली महत्वपूर्ण किताबों के शामिल किया गया।

इस किताब को रचने वाले गीरू की बुनियादी मान्यता अमेरिकी शिक्षाविद् जॉन डिवी की इस दलील पर टिकी है कि लोकतांत्रिक प्रथाएं कभी भी विरासत में नहीं मिलतीं। हर नई पीढ़ी को उन्हें सीखना पड़ता है और फिर से सीखना पड़ता है और यह बगैर सवाल उठाए या बगैर संघर्ष किए नहीं होता। यह बात गीरू के पूरे लेखन व शिक्षण की धुरी कही जा सकती है।

जब हर नई पीढ़ी को लोकतांत्रिक प्रथाओं को सीखना व फिर से सीखना होता है तो उस सीखने में उन प्रथाओं की विवेचना करना भी शामिल हो जाता है। गीरू का सीखना किसी रटू तोते की तरह कंठस्थ कर लेना भर नहीं है। इस सीखने व फिर से सीखने वाली पीढ़ी के हिस्से के तौर पर गीरू बहुत-सी चीजों के पुराने अर्थों की छानबीन करते हैं और उन्हें नए अर्थ देते हैं। गीरू का अब तक का जीवन स्कूल और राजनीति के आपसी संबंधों की छानबीन व उसे बदलने के रास्तों की तलाश व उन्हें आजमा कर देखने में गुजरा है। इसी दौरान वे शिक्षाशास्त्र को स्कूल से बाहर फैलाकर उसे बदलते हुए नया अर्थ भी देते हैं। शिक्षक की नई भूमिका गढ़ते हैं और उसे भी दूसरे पेशेवरों की तरह संस्कृतिकर्मी की अवधारणा के अंदर शामिल करते हुए संस्कृतिकर्मी की अवधारणा को भी बदलते हुए फैला देते हैं। वे छात्रों, शिक्षकों और उन्हें साथ लाने वाली संस्थागत संरचनाओं की परंपरागत भूमिकाओं को चुनौती देते हुए अध्ययन के नए-नए क्षेत्र खोल देते हैं, लेकिन इसके साथ ही वे यह भी याद दिलाते हैं कि विवेचनशील नागरिक बनाने का प्राथमिक जिम्मा उसी तरह से स्कूल का ही है, जिस तरह से इलाज करना चिकित्सकों का प्राथमिक जिम्मा है। चिकित्सकों से कोई यह उम्मीद नहीं करता कि उनका प्रमुख काम विवेकशील नागरिक तैयार करना है। वे यह भी चाहते हैं कि शिक्षाविद् अपने संसाधनों व संभावनाओं के साथ हमारे समुदायों में जाएं ताकि हम संवाद व संघर्षों के लिए सरहदों पर जगहें बनाना शुरू कर सकें। वे न सिर्फ यह दलील देते हैं कि लोकतांत्रिक जगहें बनाने के लिए सरहदों को तोड़ना जरूरी है बल्कि पूरी अंग्रेजी मूल किताब के शीर्षक में भी इस बात को 'सरहदों पर आवाजाही' के नाम से शामिल करते हैं, जिसे प्रकाशक व अनुवादक न जाने क्यों हटा देना जरूरी समझते हैं। गीरू अपने द्वारा प्रतिपादित शिक्षाशास्त्र का नाम भी सरहदों पर आवाजाही वाला शिक्षाशास्त्र यानी 'सीमांत शिक्षाशास्त्र' रखते हैं और उसका ढांचा भी खड़ा करते हैं जिसमें वे बहुत सारे ज्ञान के क्षेत्रों की सीमाओं को पहचानने व उन्हें चुनौती देने व दोबारा परिभाषित करने का काम भी करते हैं।

गीरू का मानना है कि वास्तविक विवेचनात्मक लोकतंत्र बनाने के लिए विवेचनशील नागरिक की जरूरत होती है और ऐसे नागरिक के निर्माण को प्रोत्साहित करने के लिए स्कूल एक निर्णायक जगह है। इसके साथ ही वे अपने अनुभव से यह भी कहते हैं कि लोकतंत्र में शिक्षा को लेकर संघर्ष सिर्फ स्कूल तक ही सीमित करके हम उन सभी संरचनात्मक व विचारधारात्मक अड़चनों की अनदेखी कर देते हैं, जिनमें रहकर शिक्षक काम करता है। इसलिए वे शिक्षाशास्त्र को स्कूल से बाहर भी फैला देते हैं और शिक्षक की भूमिका भी तकनीकी तरीके से विषय शिक्षण कर देने वाले व्यक्ति से बदलकर एक रूपांतरकारी बुद्धिजीवी के तौर पर प्रस्तावित करने के साथ-साथ संस्कृतिकर्मी की एक पारंपरिक किस्म से काफी व्यापक अवधारणा भी पेश करते हैं। उनका मानना है कि पारंपरिक तौर पर कलाकारों, लेखकों और मीडियाकर्मियों को ही संस्कृतिकर्मी माना जाता है। वे विधि, सामाजिक कार्य, वास्तुकला, मेडिसिन, धर्मशास्त्र, शिक्षा और साहित्य जैसे क्षेत्रों में काम कर रहे लोगों को भी संस्कृति के दायरे में रखते हैं। इसके पीछे उनका मकसद सांस्कृतिक कार्य की अवधारणा व उसके व्यवहार को फिर से परिभाषित करना है।

वे शिक्षाशास्त्र को लगातार सांस्कृतिक राजनीति से जोड़कर देखते हैं और इससे जोड़ते ही उनके लिए दूसरे सामाजिक क्षेत्रों में बन रहे सिद्धांतों को समझना व काम में लेना जरूरी हो जाता है। इसी तरह वे यह भी मानते हैं कि असली सैद्धांतिक काम शिक्षा के भीतर नहीं बल्कि दूसरे क्षेत्रों जैसे नारीवादी सिद्धांत, आधुनिकोत्तरवाद या सांस्कृतिक अध्ययनों में हो रहा है और इन सभी क्षेत्रों में हो रहे व्यापक आंदोलन शिक्षाशास्त्र के मुद्दों को सांस्कृतिक भिन्नता की राजनीति के अंदर उठा रहे हैं। इन क्षेत्रों के सिद्धांतकार विवेचनात्मक शिक्षाशास्त्र और सांस्कृतिक राजनीति के अर्थ को फिर से परिभाषित कर रहे हैं और शिक्षाशास्त्र को सिर्फ और सिर्फ ज्ञान और कौशल के हस्तांतरण तक सीमित रखने से इंकार कर रहे हैं। यानी, जब तक आप शिक्षा से आम तौर पर बाहर माने जाने वाले सिद्धांतों पर



### ‘संस्कृतिकर्मी और शिक्षा की राजनीति’

**प्रकाशक :** ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड  
सरस्वती कामप्लेक्स, सुभाष चौक,  
लक्ष्मी नगर, दिल्ली-110092  
**मूल्य :** 915 रुपये (हार्ड बाउण्ड)

विचार नहीं करते तब तक यह समझ ही नहीं पाते कि शिक्षा को सिर्फ विषय शिक्षण की तकनीक में बदलने से बचाने का रास्ता ज्ञान के दूसरे क्षेत्रों खास तौर पर सामाजिक क्षेत्रों के सिद्धांतों की मदद से समझने का है। वे शिक्षाशास्त्र संबंधी नए काम को राजनैतिक व सांस्कृतिक उत्पत्ति के तौर पर लेते हैं। वे इस विचार को भी छोड़ रहे हैं कि शिक्षा बिना किसी इतिहास और बिना किसी सिद्धांत का व्यवहार है। गौर आज के वक्त में शिक्षाशास्त्र में सिद्धांत व व्यवहार के बीच किए जाने वाले भेद और इन दोनों को जोड़कर न देखने की प्रवृत्ति को भी रेखांकित करते हैं और यह दावा भी करते हैं कि शिक्षाशास्त्रीय व्यवहार बगैर सांस्कृतिक राजनीति के हो नहीं सकता और इसके लिए सिद्धांत व व्यवहार दोनों को समझना व उनके आपसी संबंधों को समझना जरूरी है।

विवेचनशील नागरिक के निर्माण को प्रोत्साहित करने के लिए गौर विवेचनशील शिक्षकों की जरूरत सामने रखते हैं। ऐसे शिक्षकों को गढ़ने के लिए रेडिकल या विवेचनशील शिक्षा की चार खासियतों को सामने रखते हैं:

1. वह अंतरविषयी होती है। यानी, किसी एक विषय तक ही सीमित नहीं रहती।
2. वह सभी विषयों के बुनियादी वैचारिक रूपों पर सवाल खड़े करती है।
3. उसका लोक मिशन समाज को अधिक से अधिक लोकतांत्रिक बनाना होता है।
4. वह सिद्धांत और व्यवहार को जोड़ती है।

वे ऐसी शिक्षा की दो बुनियादी मान्यताएं भी याद दिलाते हैं कि वह, एक, विवेचना की भाषा और पूर्व मान्यताओं पर सवाल खड़े करती है। यानी प्रश्नाकुलता इसका एक खास गुण है।

दूसरा, वह मौजूदा हालातों की समीक्षा से आगे बढ़कर सशक्तिकरण को प्रतिपादित करती है।

ऐसी शिक्षा यह मानती है कि व्यक्तियों की काबिलियत का अधिकतम विकास इस तरह से किया जाना चाहिए कि उसके नतीजे में सामाजिक बेहतरी हासिल हो और व्यक्तिगत काबिलियतों का इतना विकास किया जाना चाहिए कि वे जिन सामाजिक व्यवस्थाओं के भीतर हों, खुद उन पर भी सवाल उठाने के काबिल तो बनें ही, उनमें उसके लायक हिम्मत भी पैदा हो। उनका कहना है कि प्रभुत्वशाली शिक्षा दर्शन चाहते हैं कि व्यक्ति सामाजिक व्यवस्थाओं के अनुसार ढल जाए जबकि विवेचनात्मक लोकतांत्रिक दर्शन मतभेद का सम्मान व मतभेद की राजनीति चाहता है।

गौर का यह भी मानना है कि पढ़ाई छात्रों के लिए अर्थवान होनी चाहिए, तभी वह विवेचनात्मक हो सकती है। सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अर्थवान भी वह तभी हो सकती है जब वह छात्रों की अपनी भाषा में हो। इससे हमें अपने देश के बहुसंख्यक छात्र-छात्राओं को अपनी मातृभाषा छोड़कर दूसरी भाषाओं में पढ़ने को मजबूर करना उन्हें गैर-विवेचनात्मक बनाए रखने का हिस्सा नजर आती है।

रूपांतरकारी बुद्धिजीवी के तौर पर शिक्षक की भूमिका के लिए वे तीन चीजें जरूरी बताते हैं जो बेहद काम की हैं। पहली, ऐसे शिक्षक पक्षधर होते हैं, मताग्रही नहीं। वे अपने विश्वासों को ऐसे फ्रेमवर्क में दूसरों के सामने रखते हैं जो उसे बहस और विवेचना के योग्य बनाता है। यानी, वे अपने विश्वासों को प्रवचन की तरह दूसरों के गले में नहीं उड़ेलते। दूसरा, वे पाठ्यक्रम को गढ़ने में सक्रिय भूमिका अदा करते हैं और अपनी सैद्धांतिक धारणाओं को व्यवहार में बदलने की रणनीतियों में माहिर होते हैं। तीसरा, वे ताकत का इस्तेमाल करने के भी काबिल होने चाहिए क्योंकि शिक्षाशास्त्र हमेशा सत्ता के साथ जुड़ा होता है।

गीरू अपने काम करने का तरीका भी बताते हैं। वे अपने सेमिनार के लिए अहम् सामग्री निर्धारित करते हैं। उसमें छात्रों को पर्चे लिखकर अपने रुख की पैरवी करनी पड़ती है। वह छात्रों से सिर्फ यह उम्मीद करते हैं कि वे अपने रुख के लिए वाजिब तर्क दे पाते हैं या नहीं और उसके असर का अनुमान लगा पाते हैं या नहीं। गीरू इसे स्कूल शिक्षण के मुद्दे का राजनीतिकरण करना कहते हैं। उनका मानना है कि इससे छात्र खुद की अध्ययन प्रक्रिया से जुड़े सामाजिक संबंधों के प्रति आत्म-सचेत हो जाते हैं। इस पूरी प्रक्रिया के बारे में उनका कहना है कि उनका मकसद यह है कि हम अपने देश को असली विवेचनात्मक लोकतंत्र कैसे बनाएं। यही सवाल हर लोकतांत्रिक देश का नागरिक पूछ सकता है। उनका यह भी मानना है कि स्कूल छात्रों को ऐसा ज्ञान, चरित्र और दृष्टि दें जिससे उनके नागरिक साहस का निर्माण हो।

बहुत जरूरी लगने वाली यह किताब दरअसल एक ऐसा मकान है जिसकी खिड़कियां और दरवाजे मजबूती से बंद हैं, लेकिन जिसके रोशनदानों व खिड़कियों की दरारों से बाहर आती सुनहरी रोशनी आपको यह सुराग देती है कि हर कमरे में कुछ न कुछ कीमती सामान जरूर रखा हुआ है, तो उसके भीतर जाने की तमन्ना पैदा होना लाजमी है। अब दस कमरों वाले किसी मकान की बाहर से थाह भला कैसे पाई जा सकती है, सो आप हिम्मत करके उस मकान में घुसने की कोशिश किन्हीं कमरों की खिड़कियों के रास्ते कर सकते हैं। शुक्र है कि इसके कुछ कमरों की खिड़कियों के पल्ले इतनी मजबूती से बंद नहीं हैं।

इस किताब में छुपे खजाने की झलक पाने के लिए सबसे आसान रास्ता इसके दोनों हिस्सों की शुरुआत में दिए गए दो साक्षात्कार हैं। आप उनके जरिए इस मकान में दाखिल हो सकते हैं। उसमें दिए कई विचारों के असर में आकर अगर आप इस किताब के अन्य अध्यायों यानी कमरों में घुसने की कोशिश करेंगे तो कई बार अनूदित भाषा के तगड़े झटकों के जरिए हर बार उन कमरों से बाहर फेंक दिए जाने की संभावना से बच नहीं सकते। 'गहरे अर्थों' वाली बातों के निरर्थक व अबूझ किस्म के वाक्यों के फंदे किसी भी कमरे में इस बात के लिए आपको मजबूर कर देते हैं कि आप अपनी जान बचाने के लिए खिड़की तो खिड़की, रोशनदान के जरिए भी मकान से बाहर सरक लें। हालांकि बाहर आते ही मकान के माथे पर लगा 'संस्कृतिकर्मी और शिक्षा की राजनीति' का साइन बोर्ड और साक्षात्कार आपसे टकराए कुछ विचारों की खुशबू आपको फिर से अपने अंदर आने का बुलावा देती नजर आती है।

आप समझ ही चुके होंगे कि आज के वक्त में एकदम से जरूरी लगने वाली इस किताब को हिंदी में पढ़ने के लिए आपमें बेहद हिम्मत, धैर्य और वक्त की जरूरत पड़ने वाली है। अगर आपकी अंग्रेजी पर थोड़ी कच्ची-पक्की पकड़ है और आप इसे उस भाषा के जरिए समझने की कोशिश में लगने वाले हैं तो भी आपको मुश्किल पेश आने वाली है, क्योंकि इस किताब में मूल किताब को नाम देने की जहमत ही नहीं उठाई गई है। किसी तरह आप इस किताब के नाम का अनुवाद करके तलाश करें तो पता चलेगा कि मूल किताब के नाम का सर कलम कर दिया गया है। अगर आपको यह टिप्पणी बेहद कठोर लगे, तो आप हिंदी में रखे गए नाम 'संस्कृतिकर्मी और शिक्षा की राजनीति' की किताब के अंग्रेजी नाम 'बार्डर क्रॉसिंग: कल्चरल वर्कर्स एंड पॉलिटिक्स ऑफ एजुकेशन' से खुद तुलना कर लें। यह इसलिए भी लगता है क्योंकि गीरू का पूरा का पूरा शिक्षाशास्त्र ज्ञान के अलग-अलग अनुशासनों की सरहदों को तोड़ने व उन्हें फैलाने की कोशिश में जुटा रहता है। नेट पर मौजूद पुस्तकालय लिबजेन(एलआईबीजीईन) में अंग्रेजी में आसानी से उपलब्ध इस किताब के दूसरे संस्करण को आप उलट-पुलट कर देखें तो आपको समझ में आएगा कि इस किताब का अनुवाद दोनों ही लिहाज से कोई आसान काम नहीं। न तो इसमें आई नई अवधारणाओं के लिए उपयुक्त शब्दावली खोजना व ऐसी भाषा गढ़ना जो पढ़ते वक्त हर बार कुछ फासला तय करते ही मुंह के बल गिरने को मजबूर न करे, यह न किसी एक इंसान के बूते की बात है, न ही इसके अनुवाद के लिए उपयुक्त मात्रा में धन की व्यवस्था कर पाना किसी एक प्रकाशन संस्थान के बस में है, चाहे वह सरकारी हो या गैर-सरकारी, और व्यावसायिक संस्थानों की रुचि भला इसमें क्यों होने लगी। इसलिए पहले अनुवाद का स्वागत करते हुए कम से कम हम इसके दूसरे अनुवाद की असंभव सी उम्मीद रख सकते हैं। वजह साफ है, जब ऐसी जरूरी किताबों के पहले अनुवाद भी करीब 25 साल बाद हो रहे हैं तो अगले अनुवादों की उम्मीद रखना तो असंभव की कल्पना करना ही हुआ। ♦